वीर संवत् २४९२, माघ शुक्ल ६, गुरुवार
दि. २७-१-१९६६, ढाल-२, गाथा १३ प्रवचन नं.- १०

'छहढाला' की दूसरी ढाल (चलती है।) बारह गाथा पूर्ण हुई। तेरहवीं गाथा। '**गृहीत मिथ्याज्ञान का लक्षण।**' ऐसा एक विचार इससे पहले आया कि यह आत्मा जो है, आत्मा, वह ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप। मिथ्याज्ञान है न इसमें ? आत्मा है, वह ज्ञानस्वभाव है और ज्ञान की जो पाँच पर्याय हैं - मति, श्रुत, अबाधि, मनःपर्याय और केवल; तो केवलज्ञान की एक समय की पर्याय अपने अनन्त गुणोंकी पर्याय और अपनी भी व्यवस्थित पर्याय, केवलज्ञान की पर्याय भी समय-समय में जो व्यवस्थित है, व होना है उसमें वह... अनन्त काल वह होता है न ? इसलिए केवलज्ञान की पर्याय अपने गुण की पर्याय जो ज्ञान की पर्याय का व्यवस्थितपना और दूसरे द्रव्यों की जो समय-समय की पर्याय है, उसे भलीभाँति व्यवस्थिरूप से जानती है। यह मतिज्ञान भी उसी प्रकार व्यवस्थित जानता है। अल्प, कम उसका प्रश्न अभी नहीं है। श्रुतज्ञान भी उसी प्रकार जानाता है। ऐसा व्यवस्थित जानने का और सामने व्यवस्थित पर्याय है, उसका व्यवहार से ज्ञान करने का उसका स्वभाव है। श्रुतज्ञान भी अपने अनन्त गुणों की और अपनी भी पर्याय व्यवस्थित होती है, उसको जानने का स्वभाव है। पर की भी व्यवस्थित जो होती है, उस पर्याय को जानने का उसका स्वभाव है। अवधिज्ञान भी वह स्वयं अपनी जो व्यवस्थित पर्याय समय-समय में होती है, उसे जानने का स्वभाव और रूपी आदि पर्याय उसके योग्य है, उसे भी जानने का स्वभाव है। ऐसे ही मनःपर्यायज्ञान(भी) अपनी व्यवस्थित पर्याय (जानता है), अन्य की भी उसके योग्य जितनी जानने की योग्यता है, उसकी व्यवस्थित पर्याय को जानने का स्वभाव है।

अब, यह सब केवलज्ञानादि पर्याय का स्वभाव स्वयं को और पर को जैसा है, वैसा जानना (है।) उसमें कैसे है और कैसे फेरफार करना - यह वस्तु का स्वभाव नहीं है। ऐसी पर्याय एक-एक गुण में अनन्त-अनन्त पर्याये पड़ी हैं। यह मति, श्रुत, अवधि; मनःपर्यय और केवल की जो

अनन्त पर्याय है, वह ज्ञानगुण में अनन्त अनन्तरूप रही है। ऐसा ज्ञान का धारक आत्मा (है) जिसने वस्तु का स्वरूप ही व्यवस्थित स्वयं अपने को जाने और पर को जाने - ऐसा ही उसका स्वभाव हुआ। एक समय का नहीं, परन्तु पूरा त्रिकाली स्वभाव। भाई ! वस्तु ही ऐसी है। यहाँ तो पर्याय से लेकर गुण में गया और गुण लेकर द्रव्य - ऐसी वस्तु है। यह बात है, यह वस्तु है। कुछ समझ में आया ?

भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है - ऐसा जो कहा - उसका अर्थ ही यह है कि जहाँ ज्ञान का निश्चय किया अर्थात् प्रत्येक पर्याय अपनी मति,श्रुत, मनःपर्यय की होती है, उसे वह जानता है और दूसरे गुणों की पर्याय भी क्रमसर होती है, क्रमवर्ती होती है, उसे जानता है। उसके योग्य सामने जो द्रव्य है, उसे जानने योग्य, उसे भी उस प्रकार जानता है। एक पर्याय को, एसी तीन काल की पर्यायें या सर्वज्ञ सादि-अनन्त की केवलज्ञान की पर्याय, वह भी जानता है और सामने अवस्था जो अनन्त की होती है, वह जानता है। ऐसी अवस्था का पूरा पिण्ड, वह ज्ञानगुण। उस गुण में स्व-पर का व्यवस्थित जानना-एसी ही उसकी सामर्थ्य है। ऐसे स्वभाववन्त को आत्मा न माने और दूसरे प्रकार से माने तो वह आत्मा ही उसने नहीं माना। भाई ! यह तो सवेरे उठकर फिर यह चला था। कुछ समझ में आया ?

यह भगवान ही आत्मा ज्ञानस्वरूप है अर्थात् इसकी कोई भी पर्याय भी व्यवस्थितरूप से परिणमति है और व्यवस्थितरूप से दूसरे को जानती है - इसका नाम ज्ञान ! कुछ समझ में आया ? भाई ! इसमें समझ में आता है ? विचार करते हैं, कहते हैं। बहुत अच्छी बात है।

मुमुक्षु :- फिर से समझाओ।

उत्तर :- यह कहा न, उठते ही एकदम यह बात दिमाग में आयी। वस्तु ही ऐसी है। उसमें विकल्प का अवकाश ही नहीं है। ऐसा कैसे ? पर में या मुझ में ऐसा कैसे ? यह ऐसा कैसे तो व्यवस्थित जानने का स्वभाव, उसमें ऐसा कैसे- यह विकल्प ही नहीं होता। समझ में आया ? सूक्ष्म पड़े, परन्तु वस्तु आत्मा को ज्ञान कहा है न ? भाई ! ज्ञान, वह आत्मा - ऐसा कहा है न ? इस पर से एकदम फिर विचार की धारा चली कि ज्ञान, वह आत्मा। अर्थात् कि ज्ञान तो जाने, वह आत्मा। अर्थात् उसकी जितनी पाँच पर्यायें हैं, उन प्रत्येक (को) जाने, जाने, जाने, वह आत्मा।

ज्ञान में जानना है। किसी को बदलना या स्वयं का बदलना उसमें है नहीं। आहा...हा...! करे क्या ? समझ में आया ?

यह तुम्हारे मकान का ठिकाना पड़ता नहीं, उस विचार में एकदम यह विचार आये... परन्तु जिस समय में, जिस क्षेत्र में, जिस प्रकार से जो पर्याय होनी है, उसे फेरफार करे कौन ? कुछ समझ में आया ? यह ज्ञान का तो स्वभाव ही ऐसा है, अर्थात् उसकी पर्याय का स्वभाव ऐसा, उसके गुण का स्वभाव ऐसा और उस द्रव्य का स्वभाव ऐसा। है ? आहा...हा...! ऐसा ही उसका स्वभाव है। जहाँ निर्विकल्परूप से ज्ञान का निश्चय अनुभव हुआ, जानने का दूसरा कुछ है ही नहीं इसे। समझ में आया ? यह राग आता है, उसे जाने, करे नहीं - यह द्रव्य का ऐसा स्वभाव है, भाई ! इसमें कुछ समझ में आया ?

ज्ञान आत्मा, यह कहो तब तो ज्ञान आत्मा और ज्ञान की पर्याय, वह भी आत्मा, - ऐसा हुआ न ? भाई ! है ? पर्याय, वह पर्यायवान की अर्थात् पर्याय (और) पर्यायवान एक है। गुण और गुणी एक है, अभेद है। वह जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला है। जो जानने की दशा का ज्ञान और जाने वह व्यवस्थित पर की पर्याय का ज्ञान.. बस ! यह सब जानना ही उसके पिण्ड में पड़ा है। आत्मा के पिण्ड में अर्थात् उसका शरीर ही ऐसा है। शरीर अर्थात् आत्मा का वह शरीर आत्मपिण्ड ही ऐसा है, आत्मशरीर ही ऐसा है अर्थात् चैतन्य शरीर ही ऐसा है। वह स्व-पर की जैसी व्यवस्थित है, ऐसा उसे उस प्रकार से सहज जानना। वह जानना द्रव्य में, गुण में और पर्याय में - तीनों में व्यापक है। समझ में आया ?

इसप्रकार यदि आत्मा को माने तो उसने आत्मा को माना कहा जाता है। दूसरे प्रकार से आत्मा माने तो उस आत्मा की वह स्थिति नहीं है; इससे विपरीत माने तो उसने आत्मा ही नहीं माना। आहा...हा...! भाई ! समझ में आया ? अन्दर गंभीरता तो बहुत आती थी, परन्तु अब वह भाषा में आनी चाहिए न ? भूमिका अनुसार आती है न ! ओ..हो..! यह अकेला चैतन्य गोला, वह ज्ञान - द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों में व्यापक है। वह व्यवस्थित अपने को, दूसरे गुणों को, दूसरे द्रव्यों को - इस प्रकार जानने के स्वभाववाला, वह पर्याय, गुण और द्रव्य - तीनों में व्यापक जानना। इस प्रकार उसे अनुभव में आवे, उसने आत्मा जाना और माना कहा जाता है।

आहा...हा...! अरे..! इसमें वाद-विवाद का स्थान कहाँ है ? समझ में आया ?

भगवान आत्मा, अर्थात् चैतन्यसूर्य अर्थात् स्व-पर को जानने के स्वभाव से- सत्व से भरपूर तत्त्व। उसकी पर्याय में वह स्वभाव। उसमें पहले-बाद का प्रश्न ही नहीं है कहीं पर्याय में ... आहा...हा...! यह पहले और यह बाद में... ज्ञान में जानने का नहीं रहा, यह तो विषमता हुई। है ? समझ में आया ? इससे ऐसा स्वरूप निश्चय में आया कि यह वस्तु तो ऐसी जानने के स्व-परप्रकाशक के स्वभाव से भरपूर (है) और व्यवस्थित अपने और दूसरे गुणों की और दूसरे द्रव्यों की पर्याय को जानना - इतना ही इसका स्वरूप है, बस ! और यह 'जानना' - उसे आत्मा कहा जाता है। उसने जानने का किया, वही उसने किया - यह क्रिया। कुछ समझ में आया ? भाई ! फिर इससे यह हुआ और इससे ऐसा हुआ - यह वस्तु में नहीं रहता। है ? आहा...हा...! उसके गुण में उसका गुण ऐसा है, गुण, गुण - ज्ञानगुण। ज्ञानगुण, उसका गुण ऐसा, अर्थात् स्वभाव है, बस ! जानना। ऐसा आत्मा मात्र स्व-पर को जानने का केवल अकेला चैतन्यसूर्य (है।) समझ में आया ? उसकी पर्याय मति(ज्ञान की) होवे तो भी जानना, उसमें भी व्यवस्थित जानता है। कम-ज्यादा का प्रश्न नहीं है। श्रुत(ज्ञान) भी ऐसा ही जानता है, क्योंकि उसके गुण में स्व-पर को व्यवस्थित जानने की सामर्थ्य स्वभाव है। इसलिए उसकी पर्याय में भी स्व-पर को जानने की पर्याय को व्यवस्थित जानता है। समझ में आया ? और उसमें से केवलज्ञान पर्याय तो फिर सादि-अनन्त रही। भाई !

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय - यह तो बहुत ही अल्प पर्याय है। अल्प अर्थात् बहुत थोड़े काल रहनेवाली है। है ? और केवलज्ञान पर्याय तो इससे अनन्तगुनी रहने वाली है, भाई ! ध्यान रखना ! केवलज्ञान पर्याय तो अनन्त... अनन्त... अनन्तगुनी है। जो पर्याय चार ज्ञान की हुई, इतने काल में जो काल गया, उससे अनन्तगुना काल केवलज्ञानपर्याय ऐसी की ऐसी रहनेवाली है। अब, उस कैवल्य की परिपूर्णता में अपना और पर का स्व-पर व्यवस्थित जानना ऐसा ही उसका स्वभाव है। इसलिए पूरे गुण का ही ऐसा स्वभाव है। भाई ! विवाद-तकरार, चर्चा, वाद-विवाद से पार पड़े ऐसा नहीं है; वस्तु का स्वभाव समझे तो पार पड़े -ऐसा है। इसमें समझ में आता है ?

यह भगवान आत्मा, ऐसा जिसका ज्ञान है, उसे सुशास्त्र का ज्ञान कहा जाता है। इससे विरुद्ध है, उसे सामने सच्चे शास्त्र हो तो भी उसे कुशास्त्र का ज्ञान है - ऐसा कहा जाता है। यह 'कुमति' आया न ? (इसमें से) ज़रा अधिक विचार उठा। मैंने कहा - यह अद्भुत, भाई ! कुमति से रचित शास्त्र... परन्तु सुमति से रचे गये शास्त्र हों परन्तु जिसकी मति में स्वयं को कुमतिपना है... समझ में आया ? ... तो उसका शास्त्र अभ्यास होकर उसे कुसूत्ररूप परिणमित हुआ है। शास्त्र क्या करे ? वह तो परवस्तु है। सर्वज्ञ भी क्या करें ? सर्वज्ञ सामनेवाले के जानने की अपेक्षा से तो परवस्तु है। दिव्यध्वनि क्या करे ? समझ में आया कुछ ?

भगवान आत्मा ऐसा सादि-अनन्त केवलज्ञान पर्याय, अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त गुण। जिसके गुण के पट (क्षेत्र) में एक समय में वर्तमान सब पड़ा है ऐसा। ऐसे गुण को तो स्व-पर व्यवस्थित जानना - ऐसी जिसकी सामर्थ्य है। इसके अतिरिक्त विपरीत प्रकार से माने तो न तो उसने आत्मद्रव्य को मना, न उसने दूसरे द्रव्य और गुण की पर्याय जैसा है, वैसा माना। समझ में आया ? आहा...हा...! लो ! इतना आया ? उस ज्ञान का ऐसा ही स्वभाव है - ऐसा यहाँ कहना है। उसका परिणमन का स्वभाव ज्ञान का ऐसा (है कि) सबको जानना। वे भी सामने व्यवस्थित होते हैं, तब यहाँ ज्ञान एक समय में जानता है। आहा...हा...! छहो द्रव्यों का व्यवस्थितपना, उनके गुणों का व्यवस्थिपना, उनकी पर्याय का व्यवस्थितपना। पर्याय का व्यवस्थितपना तो उसके गुण की शक्ति में भी व्यवस्थितपने परिणमना, वही उसका स्वभाव है। आहा...हा...! इसमें कुछ समझ में आता है ?

इसमें धर्म क्या आया ? ऐसा लोगों को (लगता है।) हैं ? भाई ! आत्माज्ञान का पिण्ड, इस प्रकार सर्वज्ञ पर्याय की पूर्णता की अनन्त पर्याय की सामर्थ्यवाला ऐसा जो ज्ञान गुण, उस गुण का धारक आत्मा, वह ज्ञान और ज्ञान, वह आत्मा। बस ! उसे तो इस प्रकार स्व-पर व्यवस्थित है, उसे जानना। अर्थात् इसमें व्यवहार से जाना हुआ प्रयोजनवान है - यह बात भी इसमें आ जाती है। है ? भाई ! १२वीं गाथा का जो सिद्धान्त है...ओ..हो..हो...! 'रचना जिन उपदेश की, सर्वोत्कृष्ट तीन काल, इनमें सब मत रहते हैं, तरते जीव सम्हार' - शास्त्र की किसी अपेक्षा से बात लो, उस अपेक्षा से वह सब बात यथार्थ खड़ी होती है। समझ में आया ?

'भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव'ने १२वी गाथा में यह वस्तु-व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान कहा, उसमें ही विवाद उठे। वह विवाद '**अपरमें द्विदा भावे।**' अर्थात् कि जो परम में नहीं, उसे व्यवहार करने को कहा -ऐसा है ही नहीं, भाई ! आहा...हा...! जो पूर्णदशा, कैवल्य आदि दशा में स्थित नहीं है, उसे अपूर्णदशा में ज्ञान में वह राग बाकी (रहा है), उसे जानने की ज्ञान की दशा ही ऐसी रहती है। अपनी व्यवस्थित (पर्याय को जानने का) और राग भी व्यवस्थित (होता है) उसे जानना का इतना भाग रह जाता है। इस रूप से (अर्थात्) स्वद्रव्य के पर्याय के रागरूप से केवली को वह नहीं रहता। समझ में आया कुछ ? इससे वहाँ भूतार्थ स्वभाव भगवान आत्मा, उसके आश्रय से हुआ ज्ञान, उस ज्ञान में जो अपूर्णता और रागादि है, उसे जानने का नाम व्यवहार कहा है। उसे व्यवहार का ज्ञान, व्यवहार जानना। इसके अतिरिक्त कोई दूसरी चीज़ ही उसमें खड़ी नहीं होती। समझ में आया ?

एक समय में भूतार्थ भगवान आत्मा ऐसे गुणवाला तत्त्व एकरूप से (बिराजमान है), उसकी दृष्टि होने पर अन्दर उस दृष्टिवाला ज्ञान (होता है), उसे अपूर्णता और न्यूनता है, उस कारण उसे व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान कहा गया है। केवली को वह नहीं है। उन्हें एकसाथ लोकालोक सब निमित्त है। बस ! इतनी बात है, दूसरा कुछ है नहीं।

अब, यहा पर '**गृहीत मिथ्याज्ञान का लक्षण**' (कहते हैं।) इससे उल्टा। दोनों है इसमें। समझ में आया ?

एकान्तवाद-दूषित समस्त, विषयादिक पोषक अप्रशस्त;
रागीकुमतनिकृत श्रुताभ्यास, सो है कुबोध बहु देन त्रास।।१३।।

'**(एकान्तवाद) अकान्तरूप कथन से दूषित-मिथ्या...**' अर्थात् ? '**वस्तु अनेक धर्तात्मक है...**' नीचे इसका (स्पष्टीकरण) है। '**उसमें से किसी भी एक ही धर्म को पूर्ण वस्तु कहने के कारण से दूषित (मिथ्या)...**' आत्मा आदि प्रत्येक वस्तु अनित्य भी है, नित्य भी है ! वस्तु स्वरूप से एक है, गुण-पर्यायों से अनेक है - इस प्रकार वस्तु को न मानकर उसका एक ही पक्ष मानना, तो वस्तु की सर्वांगता उसकी दृष्टि में नहीं रहती और सर्वांग माने

बिना, असर्वांग को सर्वांग माने, उसे अनेकान्त न मानकर उसने एकान्त माना है।

वस्तु के सर्वांग जितने हैं, अंग, जितने नीचे-नीचे के पर्याय के प्रकार है, समझ में आया ? गुण, पर्याय के, पूर्ण गुणपर्याय एक समय के, वे सब नित्य-अनित्य हैं। इस प्रकार उसका सर्वांगपना न मानकर, उसका एक ही अंगपना माने, (अर्थात्) नित्य ही है, तो पर्याय रह जाती है। अनित्य है (- ऐसा एकान्त माने) तो गुण-द्रव्य रह जाता है। समझ में आया ? वस्तु का सर्वांगपना मानने का नाम अनेकान्त है, उसका नाम सम्यग्ज्ञान है। वस्तु का एकांग मानना, एक पहलू ही मानना, पर्याय ही मानना और गुण - ही मानना; गुण ही मानना और पर्याय नहीं मानना... समझ में आया ? उसे एकान्तवाद - एक पक्षीय मिथ्याज्ञान कहते हैं। यह सूक्ष्म बात है।

एकान्त कथन से दूषित अथवा विषयादि पोषक अर्थात् क्या कहा ? जो पाँच इन्द्रिय के विषय। परसन्मुखता का भाव,वह परसन्मुख जाता है। समझ में आया ? ऐसे विषयों के पोषक.. स्वविषय जो आत्मा है, उसका अनादर करके पर तरफ के अकेले विषय के भाव, उनका पोषण करनेवाले एकान्तिक कुशास्त्र कहलाते हैं। समझ में आया कुछ ? '**पाँच इन्द्रियों के विषय...**' बाह्य के। उनके लक्ष्य से आत्मा को लाभ माननेवाले, (उसे) यह स्वविषय पूरा आत्मा उसमें रह जाता है। समझ में आया ? (ऐसी पुष्टि) करनेवाले, कुमतिन रचित, कपिल इत्यादि द्वारा बनाये हुए अथवा कुमतियों द्वारा बनाये हुए। जैसा द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप है, वैसा जाने बिना अपनी कल्पना की तर्ककोटी से, तर्कों के समूह से रचित शास्त्र... समझ में आया ? वे मिथ्या अप्रशस्त है। जिसमें सत्य सिद्धान्त का विरोध आता है। समझ में आया ? उन समस्त शास्त्रों का अभ्यास करना... यह धर्मबुद्धि से अभ्यास करना, उनमें से ज्ञान मिलेगा, उसमें भी सम्यग्ज्ञान के वे शास्त्र हैं - ऐसा जानकर अभ्यास

करना। इस प्रकार करता है तो वह तो कुशास्त्र रुचते हैं - ऐसा होता है... समझ में आया ? उन्हें शास्त्र जानकर अभ्यास करना, पढ़ना, दूसरों से पढ़वाना, दूसरों को पढ़ाना, दूसरों से सुनना... अद्भुत बात, भाई !

वे कुशास्त्र, जिनमें एकान्तपना है, जिनमें अनेकान्त वस्तुसिद्ध नहीं होती, उन्हें सुनाना, ऐसे कुशास्त्रों को जगत को सुनाना, वह सब मिथ्याज्ञान का पोषण है। समझ में आया ? वह 'कुबोध' अर्थात् मिथ्याज्ञान है। देखो ! वह बहुत दुःख देनेवाला है। वह त्रासदायक है। '**कुबोध बहु देन त्रास।**' आहा...हा...! समझ में आया ?

इसमें एक यह अर्थ किया है, भाई ! जरा-सा दूसरा है। इसमें तो ऐसा अर्थ किया है, यह तीसरा पूरा होने के बाद, हाँ ! इसमें, कि मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान के रहेत हुए... यह तो अपना नहीं परन्तु पहले के आधार का है, वह जरा इसमें डाला है। परन्तु एक है। जो ऐसे कुशास्त्र का ज्ञान और मिथ्यादर्शन, इनके विद्यमान रहते हुए मनुष्य, चारित्र के नाम पर जो कुछ भी धारण करता है.., चारित्र के नाम से मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याज्ञान है ऐसे उनके ऊपर, चारित्र के नाम पर व्रतादि (पालन करे), - व्रत, नियम, उपवासादि करता है, उसे गृहीत मिथ्याचारित्र कहा गया है। समझ में आया ? ऐसा जो ज्ञान है, वह इस तेरह गाथा में चलता है, वह। इससे पहले मिथ्यादर्शन (का वर्णन) चला। ऐसे मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानसहितवाला जीव, कोई चारित्र धारण करे, अर्थात् व्रत, नियम, उपवासादि धारण करे, वे सब कुचारित्र है। कहो, यहाँ 'सोनगढ़वालो'ने कहा है - ऐसा नहीं। यहाँ तो पहले उसमें छपा है। अरे..! भगवान ! क्या कहता है ?

देखो ! इसमें यह है। इसमें यह लिखा है। समझ में आया ? तथा जिसे मिथ्याश्रद्धा-ज्ञानसहित...। मिथ्या अगृहीत हो या गृहीत हो, उसकेसहित जिसने चारित्र धारण किया है, वह चारित्र कैसा ? कि, व्रत और उपवासादि क्रिया। व्रत, नियम, उपवास, रात्रिभोजन त्याग, सामायिक इत्यादि - वह गृहीत मिथ्याचारित्र कहा जाता है, उसे तो गृहीत मिथ्याचारित्र कहा जाता है। अब (कहते हैं), फिर जो क्रिया केवल शरीर को दुःख पहुँचानेवाली है... उसकी क्रिया का क्या कहना ? ऐसा। यह पंचाग्नि और (यह सब)। यह तो ऐसी मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान सहित के जैन के नाम धरानेवाले व्रत, तप, उपवास आदि करे तो भी कुचारित्र है, मिथ्याचारित्र है,

गृहीतमिथ्याचारित्र (है), ऐसा।

क्रियाएँ शरीर को दुःख पहुँचानेवाली... आगे आयेगा... मान, प्रतिष्ठा, यश, कामना और पैसे के लाभादि इच्छा से की जाती है; त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करनेवाली है, उनमें तो आत्महित की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। इस कारण से आचार्योंने ऐसी क्रियाओं को मिथ्याचारित्र कहा है। कुछ समझ में आया ? और पंचाग्नि तपने में अगणित त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा होती है। जटाजुत... जटा रखते हैं न ? जूँ इत्यादि उत्पत होती हैं। शरीर को राख लगाते हैं, तिलक मुद्रा आदि करने से मान-प्रतिष्ठा आदि की भावना स्पष्ट दृष्टि (गोचर) होती है। अनेक प्रकार के आसन लगाने से शरीर को खेदमात्र ही होता है तो आत्मलाभ प्रतीत नहीं होता। (ये) सभी (कार्य) आत्मज्ञ पुरुषों ने मिथ्याचारित्र कहा है। जैन नाम धरानेवाले भी मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान सहित जो व्रत धारण करते है, वह भी कुचारित्र है और अन्यमती की ऐसी क्रियाएँ खेदखिन्न होकर करना, वह भी मिथ्याचारित्र है। स्व-पर का विवेक नहीं होता।

यह मार्ग तो अत्यन्त ज्ञानसम्पन्न विवेक है। इसमें दूसरी कोई क्रिया, राग की क्रिया-फ्रिया उसके स्वरूप में नहीं है। आहा...हा...! ऐसा ज्ञान और दर्शन (हुए बिना) आत्मा का भान नहीं होता; और जो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान रखकर चारित्र के नाम से कोई व्रतादि धारण करता है तो वह सब मिथ्या गृहीत चारित्र है गृहीत मिथ्याचारित्र है, भाई !

'**भावार्थ : (१) वस्तु अनेक धर्मात्मक है, उसमें से किसी भी एक ही धर्म को पूर्ण वस्तु कहने के कारण से दूषित (मिथ्या) तथा विषय-कषायादि की पुष्टि करनेवाले कुगुरुओं के रचे हुए...**' कुमतिवालो के रचे हुए शास्त्र। समझ में आया ? सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ केवलज्ञानी, उनके द्वारा कथित और तदनुसार आचार्यों द्वारा रचे हुए (शास्त्रों) के अतिरिक्त कुमतियों द्वारा रचित... आ..हा..! '**सर्व प्रकार के मिथ्या शास्त्रों को धर्मबुद्धि से...**' है ? ऐसा है न ? ऐसे तो सब पढ़ें, चाहे जो पढ़े नहीं। यह शास्त्र है, इसमें से कुछ तत्त्व निकलेगा - ऐसी बुद्धि से '**लिखना-लिखाना, पढ़ना-पढ़ाना, सुनना और सुनाना, उसे गृहीत मिथ्याज्ञान कहते हैं।**' समझ में आया ?

'**(२) जे शास्त्र जगत में सर्वथा नित्य...**' अर्थात् गुण ही माने और पर्याय न माने; एक ही माने, किन्तु अनेकपना न माने, अद्वैत माने, '**और सर्व व्यापक ब्रह्ममात्र वस्तु है...**' ऐसा माने। '**अन्य कोई पदार्थ नहीं हैं - ऐसा वर्णन करता है, वह शास्त्र एकान्तवाद से दूषित होने के कारण कुशास्त्र हैं।**' एक ही आत्मा है, दूसरा कुछ नहीं, सर्वव्यापक सभी आत्मा एक ही जाति है। एक जाति अर्थात् संख्यारूप से एक (है) - ऐसा माननेवाले, उनके द्वारा रचे गये शास्त्र, सब कुशास्त्र है। उनका अभ्यास भी कुशास्त्र है। समझ में आया ? आहा...हा...!

'**(३) वस्तु को सर्वथा क्षणिक-अनित्य...**' बौद्ध मानते है न ? यह सामने लिया, उसके सामने। '**अथवा (४) गुण-गुणी सर्वथा भित...**' माने। गुणी भगवान (आत्मा) और ज्ञान अत्यन्त भित। भित रहा तो गुणी कहना किस प्रकार ? ऐसे सर्वथा गुणी भगवान और उसका ज्ञानगुण, वह संयोग से कितने ही मानते हैं, क्योंकि वह ज्ञान अधिक प्रगट होता है न ? अधिक प्रगट कहाँ से हुआ ? कहाँ था ? - ऐसा कहते हैं। अतः बाहर से आया, परन्तु अन्दर शक्तिरूप से था और एकाग्र होने पर अन्दर से आया, वह गुण-गुणी एक थे तो आया - ऐसा उन्हें ख्याल में नहीं आया। समझ में आया ? पर्याय में अधिक (ज्ञान) होता है। अधिक हुआ कहाँ से ? (तो कहें) बाहर से आया है। अर्थात् गुण-गुणी की अभेदता का स्वीकार नहीं है। भगवान गुणी आत्मा, उसकी शक्ति का सत्व पूर्ण गुण उसकी एकाग्रता से पर्याय में दशा आती है। ऐसा अभेद न मानकर एकान्त गुण-गुणी का भेद ही मानना, (वह मिथ्याज्ञान है।)

'**किसी गुण के संयोग से वस्तु है - ऐसा कथन करें...**' किसी गुण के संयोग से वस्तु, ऐसा। यह कहा न ? ज्ञान का संयोग, दर्शन का संयोग बाहर से (होता है।) '**अथवा (५) जगत का कोई कर्ता-हर्ता...**' माने। ऐसे शास्त्र सब कुशास्त्र हैं... '**और नियंता है - ऐसा वर्णन करे...**' समस्त वस्तुओं को नियन्त्रित रखनेवाला एक भगवान है। समझ में आया ? वस्तु ही व्यवस्थित/ नियन्त्रित है, उसे कोई नियंता, कर्ता माने - ऐसे जो शास्त्र हों, वे सब कुशास्त्र है। उनका बहुत अभ्यास करना, पढ़ाना, सुनना-सुनाना सब मिथ्याज्ञान है।

मुमुक्षु : - छापना ?

उत्तर :- यह सब उसमें अनुमोदन आवे न इस अपेक्षा से। उसे छापना (होवे तो) ? उसे छापने का आया, उसने किया न सब ! ऐसी पुस्तके बहुत छपाई है। वह लौकिक बात है। वह एक व्यापार की (बात है।)

तथा.. देखो ! इसमें जरा बात की है न ? कुमति रचित श्रुत का अभ्यास। है न उसमें कपिलादि ? उसमें सब आते हैं। जिस शास्त्र में मात्र पर की दया से संसार का नाश होता है - ऐसा बताया हो, वह शास्त्र भी कुशास्त्र है। तब उसमें से तर्क करे कि उसमें दया को धर्म बताया है न ? यह दयाधर्म व्यवहारधर्म बताया है। समझ में आया ?

सर्वज्ञ के शास्त्र में पर की दया का शुभभाव... निश्चय अपना स्वभाव, अरागी की दशा - श्रद्धा प्रगटी है, तब उस शुभभाव को व्यवहार धर्म कहा जाता है। व्यवहार धर्म से संसार का नाश नहीं होता। समझ में आया ? परमार्थ धर्म से संसार का नाश होता है, क्योंकि संसार, वह विकार है, राग, उदयभाव है। यह स्वभाव चिदानन्द है, उसके आश्रय से ही संसार का अभाव होता है - ऐसा न बताकर, मात्र परद्रव्य की दया के भाव से संसार का अभाव होना बतावे, वह कुशास्त्र है। आता है न ? 'मेघकुमार' के अधिकार में आता है। श्वेताम्बर में 'ज्ञातासूत्र' है न ? उसमें आता है। हाथी के जीव ने जीव की दया पालन की। हाथी था, हाथी। वर्णन सुना है न ? एक 'मेघकुमार' का जीव था। वह पूर्वभव में हाथी था। भगवान के समय में राजकुमार (था।) वह हाथी के भव में वन में हाथी स्वयं रहता। अग्नि लगी, अग्नि। बड़ी आग लगी, इसलिए एक जगह सब जानवर एक जगह इकट्ठे होने लगे। चारों और अग्नि लगी। उसमें वे सब इकट्ठे होते-होतें भींड़ हो गयी। एक खरगौश ऊपर आया। ऊपर धक्का-मुक्की होती थी, उसमें कहीं जगह नहीं मिले। उसमें इसका (हाथी का) जो पैर था, और उस हाथी को खुजली हुई। बीचोंबीच एक योजन का मंडप था। एक योजन का मंडप समझते हो ? मंडप ! ये सब वृक्ष-वृक्ष साफ करके यह मंडप हाथियों ने बनाया था। उसमें सब इकट्ठे हुए। उसमें एक खरगौश आया। अब (उसे) कहीं जगह नहीं मिले। इधर से उधर धक्के खाये, चारों ओर से धक्का-मुक्की। इतने में हाथी ने खुजलाने के लिए पैर ऊँचा किया, वह जगह मिली तो (खरगौश) बैठ गया। उस हाथीने पैर रखते हुए ऐसी ज़रा नजर की। न की होती तब तो सब (पूरा हो गया होता।) क्योंकि वे अधिक पशु थे न ? इसलिए

नीचे ऐसे देखने पर खरगौश दिखा। (हाथी ने) पैर ऐसा का ऐसा अद्धर रखा। और उसमें 'परानुकम्पे जीवाणु' ऐसा पाठ है। इस प्राणी-जीव की अनुकम्पा से संसार घटा दिया, परित किया, घटाया ऐसा है। भाई ! सुना है न ? सुना है। यह बात सत्य नहीं है। समझ में आया ?

परजीव की दया के भाव से संसार का नाश होता है - (ऐसा कहे), वे शास्त्र सच्चे नहीं है - ऐसा कहते हैं। ऐसा कहने का इसमें आशय है। तब उसने दूसरा लिया। लो ! उस शास्त्र में ऐसा कहा है... परन्तु भाई ! दिगम्बर सत् शास्त्र हैं, उनमें जितनी परदया का भाव है, उससे उसे पुण्यबन्ध का कारण कहा है और परम्परा मोक्ष का कारण कहा है - उसका अर्थ कि उसे छोड़कर स्थिर होगा। वह राग स्वयं तो बन्ध का ही कारण है। आहा...हा...! अबन्ध स्वभाव भगवान आत्मा, जिसमें भव और भव का भाव नहीं है। ऐसे आत्मस्वभाव के आश्रय से ही भव का अभाव होता है, बाकी तीन काल में दूसरे के आश्रय से नहीं होता। समझ में आया ?

भगवान आत्मा एक समय में ज्ञान और आनन्द का पूर प्रभु आत्मा है। उसके प्रवाह में तो भव के अभाव का ही प्रवाह होता है। उसमें भव है ही नहीं। भव का राग भी वस्तु में नहीं है। ऐसी वस्तु भगवान आत्मा का आश्रय करने पर ही भव का अभाव होता है। इसके अतिरिक्त यह राग, पुण्य और यह दया पालन की, इसलिए भव का नाश हो गया - यह शास्त्र के कथन सत्य नहीं है। समझ में आया ?

दान। दान में यह अधिकार आता है। श्वेताम्बर में 'विपाक अधिकार' है, विपाक सूत्र। दस दुःख विपाक, दस सुख विपाक। वे दश सुख विपाक ऐसे हैं कि मुनि तो सच्चे लिये हैं। लेनेवाले, समझे न ? बाकी तो पात्र सहित लिये हैं, परन्तु मुनि सच्चे लिये हैं और देनेवाला है, वह मिथ्यादृष्टि है। महा धनाढ्य है। ऐसे सिंहासन पर बैठा है, उसमें मुनि पधारते हैं। नीचे उतर कर पैर छूता है, बहुत आदर करता है। आदर करके आहार-पानी देता है। इससे उसके संसार का नाश हुआ- ऐसा बताते हैं। यह बात सत्य नहीं है। कुछ समझ में आया ? दशविपाक अधिकार है। सुख विपाक का पूरा विपाकसूत्र है। उसमें दशों ही बोल मिथ्यादृष्टि से मुनियों को आहार दिया (और अपना) संसार नष्ट किया - ऐसा पाठ है। वह तत्त्व की बात ही नहीं है। वे सत्य तत्त्व से विरुद्ध शास्त्र हैं। कुछ समझ में आया ? भाई !

यह बात उसमें कही थी, फिर उसे वे ले गये, देखो ! ऐसा उपदेश किया है। यह सबको कुशास्त्र कहते हैं। अपने में भी ऐसा आता है भाई ! ऐसा नहीं, भाई ! ऐसा नहीं आता, बापा ! तुझे पता नहीं भाई ! सर्व-सन्तों के कहे हुए, महामुनियों के कहे हुए - आता है न ? 'पंचास्तिकाय' में पहली गाथा में ऐसा आता है। महाश्रमण कथित या फिर उनके अनुसार महासंतो से कथित, दिगम्बर सन्त - 'कुन्दकुन्दाचार्य', 'पूज्यपादस्वामी', 'समन्तभद्राचार्य', 'नेमिचंद्राचार्य', 'अमृतचंद्राचार्य' इत्यादि महासन्तो द्वारा कहे गये। उनमें जगह-जगह स्वद्रव्य के आश्रय बिना पर से मोक्ष का धर्म का लाभ होता है - ऐसा हो ही नहीं सकता। समझ में आया ? और उस शास्त्र को जो कहना है, वह समझता नहीं तो उसे स्वयं को शास्त्र का अर्थ करनेवाले को कुशास्त्र हो पड़ा है। समझ में आया ? आहा...हा...! विवाद तो विवाद...!

कहते हैं कि ऐसा जो पर को दान (दे), उसमें शुभभाव होता है। शुभभाव होता है, क्योंकि पराश्रित व्यवहार, स्वआश्रति निश्चय। अतः जितना पराश्रितभाव होता है - साक्षात् तीर्थंकर हो, उन्हें आहार देने का भाव भी शुभ है, परन्तु वह जीव समकिती और ऐसा ही होता है, इस कारण मुक्ति का पात्र होता है। समझ में आया ? मुनि या तीर्थंकर छद्मस्थ हो और कोई दूसरा उन्हें आहार देने का भाव करे, इतने भावमात्र से भव का अभाव (होवे तो) यह राग से भव का अभाव (हुआ) - ऐसा हो ही नहीं सकता। समझ में आया ? इस राग के कारण से, दान से भव का अभाव माने तो वह शास्त्र ही सत्य नहीं है। सत्य शास्त्र तो उसे कहते हैं कि जो वस्तु स्वभाव, एक समय के विकल्प बिना की चीज़, ऐसी चीज़ की दृष्टि-ज्ञान और उसका आश्रय करने से ही भव का अभाव होता है - यह कथन अनादि-अनन्त सत्य सर्वज्ञ के घर का है। यह कथन-शास्त्र है, इससे विरूद्ध कथन सम्यक् शास्त्रो में होता ही नहीं। सम्यक् शास्त्र में विरूद्ध होता ही नहीं। समझ में आया ?

मिथ्याशास्त्र में तो ऐसी खुल्ली बातें होती है कि इस प्रकार देखो, ऐसा दिया और परित संसार किया। समझ में आया ? परन्तु किसे यह विचार मंथन करना है ? सत्य क्या है ? जहाँ पड़े वहाँ पड़े और उस में (रह गये), हो गया। समझ में आया ? ऐसा दान (दे), पर को अभयदान दे तो भी क्या ? शुभभाव है। अब, यह कहते हैं कि देखो ! 'पद्मानन्दि पंचविंशति' में अभयदान में भव का अभाव कहा है। ऐसे लेख आते है, लो ! परन्तु वह तो दूसरी बात है। समझ में आया ?

स्व-आश्रित निश्चय अर्थात् सत् पराश्रित व्यवहार अर्थात् उपचार। यह सिद्धान्त समझे बिना, दूसरे प्रकार से कथन किया हो, और उसे माने तो वह सब कुशास्त्र का ज्ञान है। समझ में आया ?

'**महाव्रतादि का शुभभाव...**' लो ! महाव्रत है, वह भी शुभभाव-पुण्य है। अणुव्रत और महाव्रत, वह आस्रव है। 'तत्त्वार्थसूत्र-मोक्षशास्त्र' में 'उमास्वामी'ने कहा है। 'तत्त्वार्थसार' में 'अमृतचंद्राचार्य'ने (भी) ऐसा ही कहा है कि अब, हम पुण्य की बात करेंगे कि जो निमित्तरूप से, सहायरूप से व्रत होते हैं। पाप की नहीं, परन्तु यह पुण्यभाव-पुण्यास्रव है। अहिंसां, सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह - पाँछ भाव महाव्रत हैं... समझ में आया ? वह शुभभाव है।

जो शास्त्र का स्वाध्याय पर तरफ के लक्ष्यवाला भी शुभभाव है, उससे निर्जरा और संवर कभी सत्शास्त्र में कहा ही नहीं गया होता है। समझ में आया ? उसका तो आधार देते हैं। 'धवल' में कहा है। अरे...! भगवान ! बापू ! ऐसा नहीं, भाई ! 'जयधवल' की तो दृष्टान्त देते हैं। शुभ-उपयोग और शुद्ध उपयोग दो सें निर्जरा है। इसके अतिरिक्त कोई आधार नहीं है। उसका अर्थ यह है, शुद्ध उपयोग से पुण्य-पाप दोनों की निर्जरा होती है, शुभ से जरा अशुभ की निर्जरा होती है - ऐसा गिनकर निमित्त कहा है। वस्तु शुद्धता के आश्रय बिना पुण्य-पाप दोनों की निर्जरा नहीं होती और उसका नाम ही वास्तविक निर्जरा हैं।

निर्जरा की व्याख्या - शक्ति की शुद्धता की वृद्धि। शुद्धता की वृद्धि क्या शुभभाव के आश्रय से होगी ? समझ में आया ? इसलिए सम्यक्शास्त्रों में 'धवल' आदि, 'जयधवल' आदि ने तो यथार्थरूप से जो कहा है, वह कहा है। उसका अर्थ करनेवाले को भूल होती है। समझ में आया ? और यह तो जिनके शास्त्रों में स्पष्ट बात लिखी हो, पाँच महाव्रत निर्जरा के स्थान हैं। 'ठाणांग' में ऐसा कथन है। समझ में आया ? पाँच महाव्रत, स्वयं अहिंसा आदि निर्जरा के स्थान है - यह बात ही झूठ है। पराश्रय से जितना विकल्प उत्पन्न हो, वह निर्जरा और संवर बिलकुल होता ही नहीं। वहाँ 'द्रव्य संग्रह' में कहा हो कि व्यवहार से अशुभ की निवृत्ति। यह तो व्यवहार का कथन है। अशुभ से निवृत्ति हुई है, उसे व्यवहार संवर कहा है, परन्तु दृष्टि सम्यक् है, शुभाशुभ दोनो ही विकल्प, वह आस्रव है। उन में से जितना दृष्टिपूर्वक अशुभ से निवृत्त हुआ, उसे व्यवहार संवर कहा है। दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता। समझ में आया कुछ ?

ऐसा जिनके शास्त्रोंमें स्पष्ट है कि यह महाव्रतादि पुण्यास्रव उनसे '**तथा मुनि को आहार देने के शुभभाव से...**' पहले अभयदान आया था और यह पात्रदान। (इससे) संसार कम या न्यून होता है (-ऐसा जिस शास्त्र में कहा हो, वह कुशास्त्र है।) समझ में आया ? आत्मा... यहाँ तो क्या कहते हैं ? कि कुमति आदि द्वारा रचित श्रुत का अभ्यास अथवा कपिलादि रचित श्रुत का अभ्यास, उसे मिथ्याज्ञान कहा जाता है। इसलिए जो शास्त्र आत्मा के चैतन्य के शुद्धभाव के अन्तर अवलम्बन के अतिरिक्त, जितने पुण्य के विकल्प उठते हैं, उनके द्वारा संसार का नाश होना बतलाते हैं, वे सब शास्त्र कुमति के द्वारा रचित कुशास्त्र हैं। समझ में आया ?

यह 'छहढाला' चलती है। कपिलादि रचित श्रुत का अभ्यास... तेरहवां है, तेरहवां। उसमें दो अर्थ है - कुमति आदि रचित श्रुत को अभ्यास। किसी जगह कपिलादि लिखा है, किसी जगह कुमतिने लिखा है। कुमति से लिखे हुए अर्थात् जिसमें सम्यग्ज्ञान चैतन्यमूर्ति भगवान, उसके आश्रय से दृष्टि, उसके आश्रय से ज्ञान और उसके आश्रय से चारित्र (होता है।) इसके अतिरिक्त पराश्रित ज्ञान, पराश्रय से राग, व्रतादि और पराश्रय की श्रद्धा इनसे जन्म-मरण का अन्त आवे - ऐसी बात कही होवे तो वह सुशास्त्र नहीं है। समझ में आया कुछ ? आहा...हा...! बहुत बात हुई।

'**उपदेश देन के शुभभाव से परमार्थ धर्म होता है - इत्यादि अन्यधर्मियों के ग्रन्थों में जो विपरीत कथन है...**' वह कौन कहता है ? वर्तमान में वह ऐसा एक पन्थ है। उपदेश करेंगे तो अपने को धर्म होगा। उपदेश करना, वह धर्म। उपदेश - वाणी तो जड़ है। समझ में आया ? वह तेरापन्थ में ऐसा है। स्थानवासी का एक तैरापन्थ भाग है न ? तुलसी ! उन लोगों का ऐसा अभिप्राय है कि उपदेश से निर्जरा होती है और धर्म होता है। इसी तरह, दूसरा कोई जीव उसे मारता हो तो बचाना - ऐसा वे नहीं कहते, परन्तु उसे उपदेश देना। भाई ! किसी जीव को मारना ठीक नहीं है - इत्यादि। इस उपदेश से उपदेश देनेवालो का धर्म होता है। झूठ बात (है।) उपदेश, वह वाणी की क्रिया है, उससे आत्मा को धर्म बिलकुल नहीं होता। उपदेश देने के काल में जो विकल्प उठता है, वह भी पुण्यबन्ध है, उससे भी स्व को- आत्मा को धर्म नहीं होता। आहा...हा...! समझ में आया ? परन्तु जो कोई ऐसा मानता है या शास्त्र में, शास्त्र के बहाने मनवाता है कि उपदेश से दूसरे जीवों को बहुत लाभ होता है, आत्मा को धर्म का लाभ होता है - यह

बिलकुल झूठ बात है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- किसे हो ? वह तो उसकी स्वयं की पर्याय के कारण होता है। यह भगवान का मार्ग अलग प्रकार का है। यह तो सर्वज्ञ परमात्मा का पेट है। सूक्ष्म बात है। समझ में आया ?

वाणी नीकलती है, वह तो स्वतन्त्र जड़ है। आत्मा उसका कर्ता है ? और वाणी निकली, इसलिए सामनेवाले को ज्ञान हुआ - ऐसा है ? वह तो आत्मा ज्ञानमूर्ति (है।) उसे उस समय के ज्ञानपर्याय होती है, तब वाणी को निमित्त कहा जाता है। वाणी से ज्ञान होता हो, तब तो सबको समान होना चाहिए। समझ में आया ? सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ परमेश्वर तीर्थंकर देव की दिव्यध्वनि सुननेवाले बहुत होते हैं - सबको समान ज्ञान होता है ? क्यों ? वाणी तो एक प्रकार की निकलती है। गणधर को चौदह पूर्व का द्वादश अंग का ज्ञान होता है। दूसरे को किंचित् हो जाए लो ! समझ में आया ? यह क्या कहलाता है ?

यह 'प्रद्युमन', 'रुकमणी' का पुत्र, वह जब खो गया, नारद भगवान से पूछने गये थे। 'सीमन्धर' भगवान त्रिलोकनाथ महाविदेहक्षेत्र में अभी बिराजमान हैं, अभी तीर्थंकर परमेश्वर विराजमान है। कौन ? सीमन्धर प्रभु अभी बिराजते हैं ये चौबीस तीर्थंकर तो मोक्ष पधारे, उन्हें देह नहीं है, वे तो सिद्ध है, परन्तु महाविदेहक्षेत्र में अभी 'सीमन्धर' भगवान आदि बीस तीर्थंकर शरीरपने विद्यमान है। वहाँ इन्द्र वाणी सुनते जाते हैं। यह सामायिक में आज्ञा नहीं लेते ? किसे पता है, कहाँ लेते होंगे ? भगवान महाविदेह क्षेत्र में विराजमान हैं। वह वाणी निकलती है, उसे इन्द्र सुनने जाते हैं। समझ में आया ? तो भी सभी सुननेवालों को एक सरीखा ज्ञान नहीं होता। क्यों ? कि वाणी से होता होवे तो सबको समान होना चाहिए। उसकी स्वयं की जितनी योग्यता, जितनी लायकात है, उतना ज्ञान उसे होता है, तब उतने प्रमाण में वाणी को निमित्त कहा जाता है। हैं ? आहा...हा...!

वीतराग परमेश्वर की ध्वनि निकलती है। ॐ ध्वनि ! बारह प्रकार की सभा है। नाग, बाघ, करोड़ देव सभा में बिराजते हैं। भगवान 'महावीर प्रभु' थे, तब भी सभा में करोड़ो देव-देवियां आते थे, सुनते थे। उन सबको समान (ज्ञान) नहीं होता था। तब उस वाणी के कारण से ज्ञान नहीं,

उसकी अपनी योग्यता के कारण से (ज्ञान होता है)। वाणी तो एक धारा से निकलती है, एक साथ पूर्ण ! जिसे बारह अंग का ज्ञान हुआ, उसे वह बारह अंग के ज्ञान में निमित् कहलाई। वह क्या कहलाता है, यह कहा वह ? 'प्रद्युमन' 'नारद' पूछने गये तो 'नारद' को ऐसा लगा कि भगवान मुझे ऐसा कहते हैं। भगवान उसे ऐसा कहते हैं कि 'रुकमणी' का पुत्र उसके घर सोलह वर्ष में आयेगा... भगवान की वाणी में कहा (वह) अलग नहीं आता, भगवान की वाणी तो एक साथ ॐ ध्वनि इच्छा के बिना खिरती है; वे तो वीतराग हैं। केवली हैं, उन्हें राग नहीं होता। 'नारद' को ऐसा लगा कि 'रुकमणी' का पुत्र सोलह वर्ष में आयेगा ऐसा भगवान कहते हैं। उसे उस प्रकार का उघाड़ में (वाणी) उतनी निमित्त हुई। समझ में आया ?

वाणी, निमित्त कब कहलाती है ? कि जिसे जितनी योग्यता प्रकट हुई, उतने ज्ञान को वह निमित्त कहलाती है। वह तो पूरा प्रकट; गणधर को बारह अंग का ज्ञान प्रकट हुआ तो बारह अंग में निमित्त कहलाई। उसे इतना कहा तो भगवान की वाणी उतने में निमित्त कहलाई। इसमें वस्तु स्वतन्त्र सिद्ध होती है या उसके कारण होता है - यह सिद्ध होता है ? समझ में आया ? इसलिए कोई उपदेश की वाणी से आत्मा को लाभ होता है - ऐसा माने अथवा शास्त्र में इस बहाने मनवावे, वह कुशास्त्र है। समझ में आया ? स्वयं को तो जितना आत्मा श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति में, दृष्टि में लिया है, उसकी जितनी एकाग्रता वर्तती है, वह उसे लाभ का कारण है। विकल्प उत्पन्न हुआ, वह भी आत्मा के धर्म और एकाग्रता का कारण नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया ?

यह (संवत्) १९८२ के साल में नहीं कहा था ? 'तिरे वह तारे' - ऐसा सूत्र रखा था। तब वह आया (और) कहा, ऐसा नहीं; यह लिखाओ कि 'तारे, वह तिरे।' मैंने कहा - किसे ढूँढने जाना ? १९८२ के साल में 'वढ़वाण' में (एक मुमुक्षु) है; उसने व्याख्यान पर लिखा था। १९८२ के साल, चालीस वर्ष हुए। 'वढ़वाण'में स्थानकवासी के 'सुन्दर वोरा' के उपाश्रय में व्याख्यान चलता था। 'तारे, वह तिरे' - (ऐसा) वह कहने लगा। 'तिरे, वह तारे' - लिखा था। एक वकील था, 'वढ़वाण' में हलवाई था। वह वकील आया-महाराज ! ऐसा नहीं; 'तारे, वह तिरे।' (हमने) कहा - कितनों को ढूँढ़ने जाना ? दूसरा नहीं तिरे तो आत्मा का स्वयं का तरना चला जाता है ? वाणी नहीं हो... समझ में आया ? वकील था, एक वकील था। कुछ तर्क करना चाहिए

न ? तर्क किया। भाई ! यहाँ ऐसा तर्क नहीं चलता, कहा।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- वह तो बिचारा साधारण रीति से बात करता था। ऐसे तो हमारे प्रति प्रेम था न ? सबको प्रेम था न ! किसी को अश्रद्धा नहीं, परन्तु ऐसा कि ऐसा मानो कोई वकील है न (तो) तर्क करना, ऐसा। दूसरा एक भी प्राणी नहीं तरे, आत्मार्थी अपने ज्ञान-ध्यान में रहकर केवल(ज्ञान) प्राप्त करके मोक्ष चला जाए; कहने का विकल्प भी नहो और वाणी भी न हो - इससे कहीं लाभ रुक जाए - ऐसा नहीं है।

यह दूसरे की अपेक्षा से बात की है, हाँ ! तेरापन्थी ऐसा मानते हैं। उपदेश देना धर्म है - ऐसा वे मानते हैं। निर्जरा है - ऐसा मानते हैं। इस अपेक्षा से लिखा है। तब (कहे), हमारे शास्त्रों में से... ऐसा नहीं भाई ! ऐसा कहना, उसके लिए कहा है। व्याख्यान में बहुत बार आया हो न ! उसमें से फिर लिखा गया है। '**जो विपरीत कथन हैं, वे एकान्त और अप्रशस्त होने से कुशास्त्र हैं।**' वे सच्चे शास्त्र नहीं कहलाते। '**क्योंकि उनमें प्रयोजनभूत सात तत्त्वों की यथार्थता नहीं है। जहाँ एक तत्त्व की भूल हो, वहाँ सातों तत्त्वों की भूल होती ही है - ऐसा समझाना चाहिए।**' एकबार यह बात बहुत अच्छी की। एक तत्त्व की संवर-निर्जरा की भूल होवे, वहाँ आस्रव कितना होता है ? अधिक संवर होवे तो आस्रव थोड़ा होता है -इसका भी जिसे पता नहीं हो, थोड़े संवर से केवल पाते हैं (ऐसा माने तो) केवल का भी उसे मान नहीं है। उसे सातों तत्त्वों का ख्याल नहीं होता। एक तत्त्व की भूल से सातों ही तत्त्वो का ख्याल नहीं - ऐसी ज़रा सूक्ष्म बात है, भाई ! समझ में आया कुछ ? ऐसे तत्त्वों के कहनेवाले कुशास्त्रों का अभ्यास करना, कराना और करते हुए का अनुमोदन करना; पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना यह सब कुशास्त्र, कुज्ञान कहलाता है। कुशास्त्र कैसे हैं ? '**सो हैं कुबोध बहु देन त्रास।**' बहु देन त्रास। बहुत त्रास देने का इस मिथ्याज्ञान का फल है। इसलिए धर्मार्थी जीव को कुशास्त्रो का ज्ञान छोड़कर सुशास्त्रो का अभ्यास करना। यह बात यहाँ कहना चाहते हैं। (श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)